ओह! पंचायतः सामाजिक विज्ञान की पाठ्य पुस्तकें तैयार करने में मिले कुछ बिखरे सबक[1]

अलक्स एम. जॉर्ज

शिक्षा का समाजशास्त्र - एक ऐसा विषय-क्षेत्र, जो लगता है कि मेरे पेशे का मुख्य कार्य-क्षेत्र रहा है - के सम्बन्ध में शैक्षिक आलोचक पाठ्य पुस्तकों के बारे में जो बातें कहते हैं वे हमेशा मेरे दिमाग में कहीं अटकी रहती हैं। वे कहा करते हैं कि पाठ्य पुस्तकेंः

- राज्य का ऐसा साधन हैं जिनके द्वारा वह शिक्षक और उसके विद्यार्थियों के बीच होने वाली अन्तर्क्रियाओं को नियंत्रित करता है ताकि उसका अस्तित्व स्थाई बना रहे;
- राज्य के हाथों में एक ऐसा उपकरण है जिसके द्वारा आधिकारिक ज्ञान का एक ऐसा ताना-बाना रच दिया जाता है जिससे यह सुनिश्चित हो

[1] *इस लेख में कई वास्तविक लोगों का उल्लेख किया गया है, पर यह कोई निष्पक्ष अन्तःप्रेरित प्रक्रिया नहीं है। यह अवचेतन के धुएँ से भरा वर्णन है जो कल्पनामिश्रित स्मृतियों पर निर्भर है। यह सत्य को खोजने वालों के लिए नहीं लिखा गया है, हालाँकि इसमें पेय पदार्थों के नाम 'शैक्षिक शिष्टाचार' का ख्याल रखते हुए बदल दिए गए हैं। प्रयास किया गया है कि पाठों को विचारणीय प्रश्नों के साथ समाप्त किया जाए। यह उस पारम्परिक भारतीय शैक्षणिक विश्वास के विपरीत है जो यह मानता है कि हर बात एक साफ-सुथरी 'कहानी की सीख' के साथ समाप्त होनी चाहिए।*

जाता है कि मध्यम वर्ग का अस्तित्व बना रहे;

- बच्चों को शिक्षा से दूर कर देने में सक्षम उपकरण; इत्यादि।

फिर भी, पिछले कई सालों से मैं अध्ययन सामग्री तैयार करने के काम में ही लगा रहा हूँ, जिस दौरान बार-बार मैंने इस दायरे से निकल भागने की कोशिश भी की!

यह लेख स्कूली पाठ्य पुस्तकों के एक पाठ - पंचायत - को तैयार करने (अक्सर दूसरों को तैयार करता देखने) से मैंने जो सीखा उसका सार है। दो कारणों की वजह से यह पाठ हाल के समय में मुझे फिर से याद आया, (1) हरियाणा की कुख्यात खाप पंचायतें और (2) कर्नाटक के चुनाव। पर मुझे कहानी शुरू से बतानी पड़ेगी...।

मैं मानता हूँ कि मेरे मौजूदा पाठकों में से किसी को भी यह समझाने की ज़रूरत नहीं है कि पंचायत क्या होती है। पर जल्दी से मैं पंचायत पर आम तौर पर पाए जाने वाले अध्याय की पाठ्य पुस्तकीय व्याख्या दे दूँ कि ऐसे अध्याय में आपको यह सब मिलेगाः पंचायत की रचना व उसकी शक्तियों, और कार्यों का वर्णन। इसे आम तौर पर नियम पुस्तिका की बेहद साफ-सुथरी शब्दावली में लिखा जाता है। पिछले कुछ दशकों से 'बच्चों से मित्रवत व्यवहार' के नाम पर, पाठ्य पुस्तकीय वर्णनों को अक्सर उनमें ऐसे किरदारों को घुसाकर बिगाड़ दिया गया है जो वही की वही जानकारी अक्सर दूसरों पर कृपा करने के भाव के साथ उड़ेल देते हैं।[2]

पाठ 1: मूलबातों के मतभेद में फर्क करना

यह फुटबॉल के चार विश्वकप पहले की बात है। बात शुरू होती है जयपुर के तब के बाहरी इलाके झालना डूँगरी में एक अतिथिगृह के पास एक ढाबे पर गरमागरम मसालेदार चाय का इन्तज़ार करते हुए। मुझे अभी भी पक्की तरह से यह विश्वास नहीं हो पा रहा था कि मैं कक्षा-6 के लिए एकलव्य की सामाजिक विज्ञान की हिन्दी किताबों में से सही 'अर्थों' को समझ रहा था कि नहीं। मैं अरविन्द के पंचायत अध्याय के वाचन को सुन रहा था। यह सम्भवतः पाँचवीं मर्तबा था कि हमने यह अध्याय मिलकर पढ़ा था। और तब भी हम सब आश्वस्त नहीं हो पाए क्योंकि पंचायत के तमाम कार्यों के आलोचनात्मक मूल्यांकन के बावजूद यह अध्याय 'और फिर वे लोग हमेशा खुशी-खुशी जीते रहे' जैसी भावना के साथ समाप्त हो रहा था।

इस अध्याय का मुख्य कथानक

[2] *यह लेख समाज के कुछ लोगों को हाशिए पर धकेल दिए जाने के स्वरूपों और मुद्दों का उल्लेख नहीं करता। इसके लिए आप इस लिंक http://expressbuzz.com/magazine/if-eve-could-be-steve/84204.html पर लेख 'इफ ईव कुड बी स्टीव' पढ़ सकते हैं।*

एक स्त्री द्वारा उसकी कॉलोनी के निकट हैण्डपम्प हेतु गड्ढा खुदवाने के लिए की गई जद्दोजेहद है। एकलव्य की पाठ्य पुस्तकों और सामान्य पाठ्य पुस्तकों के मौलिक अन्तर में से एक यह है कि जहाँ सामान्य पाठ्य पुस्तकों में संस्थाओं के कार्यों और शक्तियों का अपेक्षा के मुताबिक 'पाठ्य पुस्तकीय' ढंग से वर्णन किया जाता है, वहीं इस अध्याय में संस्थाओं की अक्रियाशीलता को दर्शाया गया है और यह भी बताया गया है कि किस तरह से निर्णय प्रक्रियाओं में गाँवों की राजनीति महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, भ्रष्टाचार कितना बढ़ गया है, इत्यादि। फिर वास्तविक जीवन के इन चित्रणों का उपयोग आलोचनात्मक सोच विकसित करने के लिए किया गया है, एक ऐसा तत्व जो भारतीय सामाजिक विज्ञान पाठ्य पुस्तकों में नदारद होता है।

इसके बाद मैंने महमूद और सुधीर के साथ चर्चाएँ शुरू कीं। इस तथ्य के बावजूद कि राजस्थानी खुद को मध्य प्रदेश की तुलना में ज़्यादा 'प्रगतिशील' मानते हैं, दोनों राज्यों के राजनैतिक जीवन के परिदृश्य में कोई बहुत अन्तर नहीं दिखता। फिर भी नियम-कायदे एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। पर मेरी नई-नई सीखी हुई हिन्दी शब्दावली को सुधारते हुए, वे लोग बार-बार इस बात पर ज़ोर देते कि मैं देवास की 'टेकरी' के नीचे नहीं रहता था, जैसा कि मध्यप्रदेश वाले उसे कहते हैं, बल्कि असल में वह 'डूँगरी' है, जैसा कि राजस्थानी लोग उसे कहते हैं। और मैं सोच में पड़ गया कि स्थानीय तड़का डालने से किस हद तक बच्चा पाठ्य पुस्तकों से जुड़ा महसूस करेगा।

हालाँकि, हमारे द्वारा पाठ्य पुस्तकों में समीक्षात्मक सोच पर सामान्यतया काफी ज़ोर दिया जाता है, जैसा कि केरल राज्य की पाठ्य पुस्तकों के पिछले दौर में हुआ, पर किसी के पास इतनी हिम्मत नहीं होती कि राजनैतिक संस्थाओं की कहानी को नकारात्मक ढंग से खत्म करे।

पर साथ ही क्या यह स्वीकार करना महत्वपूर्ण नहीं है कि राज्य के लिए पाठ्य पुस्तकें बनाते समय हमें कुछ खास तर्कों को पेश करने की स्वतंत्रता मिलती है? क्या यह साफ नहीं है कि पाठ्य पुस्तकों में असली राजनैतिक दुनिया को कक्षा में ले आने की क्षमता होती है? क्या बच्चे में यह भरोसा जताना महत्वपूर्ण नहीं है कि यदि उसे पर्याप्त आलोचनात्मक नज़रिया दिया गया हो तो वह अध्याय के अन्त में आने वाले अनपेक्षित सकारात्मक मोड़ के रहस्य को सुलझा सकेगा?

पर फिर एक दिन भारत सरकार ने पोखरन-II करने का निर्णय लिया, और धीरे-धीरे *लोक जुंबिश को* समेट दिया गया। और अब राजस्थान की मौजूदा पाठ्य पुस्तकें तो इसका कोई भी संकेत नहीं देतीं कि उनमें कभी सुधार के कोई प्रयास हुए भी थे।

पाठ 2 - उपनिवेशवाद और हाशिए का सृजन

नाम्ग्याल ने हमें गुर-गुर चाय पेश की। फिर उसने पूछा, "आप नीचे से कब आए?" कई लद्दाखियों द्वारा यही सवाल पूछे जाने का अनुभव हो चुका होने से हमने जोड़-तोड़ कर उसका उत्तर दिया। इसके बाद नाम्ग्याल सुजाथा, विनीथा, सुमथि और मुझे यात्रा की योजना समझाने लगा। "दिन में, लगभग 3 घण्टे चलने के बाद

आप पहले गाँव पहुँचेंगे, जो कि एक छोटे-से सोते के समीप स्थित है। वहाँ 4 परिवार हैं। आप अपना पैक किया हुआ दिन का भोजन वहाँ कर सकते हैं। फिर आप 4 घण्टे और चलकर दूसरे गाँव पहुँच जाएँगे। वहाँ 7 परिवार हैं। वे लोग आपको उनके घरों में ठहरने की जगह दे देंगे। अगले दिन करीब 4 या 5 घण्टे चलने के बाद आप उस दिन के पहले गाँव पहुँचेंगे, वहाँ एक ही घर है...।" यह वर्णन इसी तरह चलता गया कि किस तरह से और किन-किन पड़ावों से गुज़रकर हम अपने गन्तव्य स्थान, लद्दाख के हिमतेन्दुआ रिज़र्व में दाखिल होंगे। मेरे लिए मुद्दा यह नहीं था कि हम पहाड़ों पर इतना पैदल चल पाते या नहीं, बल्कि मेरे दिमाग में तो अभी भी पंचायत वाला अध्याय घूम रहा था। इतने कम घर होने पर वार्ड कैसे बन सकते हैं? पंचायत के अन्तर्गत आखिर कितना बड़ा क्षेत्र आएगा? पंचायतों की मेरी छवियाँ तो ऐसे गाँवों पर आधारित थीं जिनमें हज़ारों या कम-से-कम कई सौ लोग निवास करते थे! अतः मुझे अपनी काफी कुछ जानकारी को भूलने की ज़रूरत थी।

आपका ध्यान कक्षा 4 और 5 की पाठ्य पुस्तकों के नए सेट पर जाता है जो 2003 में सैक्मोल (SECMOL) द्वारा निकाला गया था जिन्हें लद्दाख क्षेत्र में इस्तेमाल किया जाना था, जिसका अपने सामाजिक सम्बन्धों को संगठित करने का एक खास व अनोखा ढंग रहा है। ये पाठ्य पुस्तकें बच्चों को गोबा, लोरपा, चुरपोन आदि की पारम्परिक भूमिकाओं से परिचित करवाती हैं जो कि समाज की सामूहिक ज़रूरत के मुताबिक विविध प्रकार के काम करते हैं। लोरपा का काम यह सुनिश्चित करना होता था कि दूसरे लोगों के खेतों में घुस जाने वाले जानवरों को ज़ब्त किया जाए; चुरपोन यह निर्णय लेता था कि किस खेत में किस दिन और कितनी बार पानी दिया जाएगा; और गोबा ग्राम-प्रमुख हुआ करता था। पर राज्य के आधुनिक ढाँचे में पंचायत के भीतर विभिन्न पदों के लिए अब इन लद्दाखी शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। अब वे 'नीचे' से आयातित शब्द जैसे 'सरपंच', 'पंचायत' आदि का प्रयोग करने लगे हैं। और हाशिए में हम यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि "क्या ये पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से किए जा रहे सांस्कृतिक औपनिवेशीकरण के लम्बे हाथ तो नहीं हैं?"

लेकिन दो प्रश्न अभी भी अनसुलझे हैं। आखिर इन बच्चों की किताबों में क्यों पंचायत को लद्दाख के गाँवों का स्थानीय प्रशासन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली संस्था के रूप में दर्शाया जाए? उत्तरपूर्वी राज्यों के कई ज़िलों की तरह लद्दाख का प्रशासन भी एक स्वायत्तशासी परिषद के हाथों में है। लेकिन फिर भी पाठ्यक्रम को मुख्य रूप से परिभाषित करने वाले 'नीचे के लोगों' के बारे में अपनी

समझ के मुताबिक मैं यह कह सकता हूँ कि वे लोग या तो ऐसी संस्था को पहचान नहीं पाते या फिर उन्हें इसके बारे में कुछ पता नहीं होता। 'नीचे के लोगों' की पाठ्य पुस्तकों में हमें स्वायत्तशासी परिषदों के अस्तित्व की बात ही सुनने को नहीं मिलती। और जब सरकार के त्रि-स्तरीय ढाँचे की बात होती है तो क्या उसमें स्वायत्तशासी परिषदें सिर्फ एक अजीब विसंगति मात्र हैं? या क्या यह राज्य व्यवस्था का वह रवैया दर्शाता है जो जनजातीय समुदायों को हाशिए पर रहने वाले महत्वहीन समुदाय मानता है?

इसलिए क्या इससे साफ ज़ाहिर नहीं हो जाता कि यहाँ पढ़ाने योग्य चीज़ों को चुनने के लिए प्राथमिकता का पैमाना ही आड़ा-तिरछा है? या क्या अन्य प्रशासनिक ढाँचों, कुछ निश्चित संस्थाओं और लोगों की मौजूदगी को नकारकर भारतीय राज्य इन लोगों को हाशिए पर ही रखना चाहता है? बड़ी विडम्बनापूर्ण बात है कि आखिर क्यों एक राज्य जो पाठ्य पुस्तकीय ज्ञान के माध्यम से अपने अस्तित्व को मज़बूत बनाए रखना चाहता है, ऐसी संस्थाओं के अस्तित्व को नष्ट करता है, उसे टाल देता है और अनदेखा कर देता है?

एक अन्य प्रमुख दुविधा अतीत की यादों से उत्पन्न होती है। नीचे के लोगों की पाठ्य पुस्तकों में पंचायत के वर्णन को इस तरह से प्रारम्भ करना बहुत प्रचलित है- "पंच अर्थात पाँच, प्राचीन समय में हमारे गाँवों का प्रशासन पाँच बुद्धिमान लोगों के हाथों में होता था..।" एक आधुनिक संस्था को मान्यता दिलवाने के लिए हम अतीत की याद दिलाने लगते हैं। पाठ्य पुस्तकों में तो चीज़ों को बस बड़ी सरलता से लिख दिया जाता है कि "पर उस समय महिलाओं की बहुत अधिक भूमिका नहीं होती थी, और देखिए अब 'हमने' इसे सही कर दिया है।" पर पंचायत की चर्चा के सिलसिले में कभी-कभार किसी का ऐसा कह देना, 'क्या वैसी ही जैसी हरियाणा की खाप पंचायतें!', अतीत की इन मधुर स्मृतियों को पंचर कर देता है और एकदम से आपके सामने उस ज़माने से चली आ रही सामन्तवादी हकीकतें उजागर हो जाती हैं। अर्थात् सामन्तवाद की प्रतिनिधित्व-विहीन और अलोकतांत्रिक प्रकृति हमारे सामने आ जाती है।

पर सोचने लायक सवाल यह है कि किसी 9 या 10 साल के बच्चे के लिए कथित रूप से किसी प्राचीन या आधुनिक संस्था को समझ पाने का क्या मतलब है? क्या यह मानना वाकई सम्भव है कि एक दस वर्षीय बच्चा पाठ्य पुस्तकों के उदाहरणों द्वारा यह भेद दर्शाए जाने पर, कि तुम्हारे पिता खाप प्रमुख हैं और तुम्हारे पड़ोसी ग्राम पंचायत सदस्य हैं, इनके अलग-अलग अर्थों को समझ पाएगा?

पाठ 3 - सर्पिलाकार तरीका और नेशनल मॉडल

एक बार, अरविन्द मुझे गुवाहाटी ले गया। वहाँ कक्षा-5 में पढ़ाई जा रही एक किताब पर तीन-दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया था। एक तरह से, मुझे उम्मीद थी कि फिर कभी मेरा पंचायतों से कोई वास्ता नहीं पड़ेगा। पर इससे भी ज़्यादा हैरानी वाली एक और बात थी। मैंने कभी सोचा नहीं था कि ब्रह्मपुत्र के किनारों पर पानी के मुद्दे पर परिचर्चाएँ होंगी, क्योंकि इस राज्य के बारे में मेरा पाठ्य पुस्तकीय ज्ञान इसी तथ्य तक सीमित था कि वहाँ देश में सबसे ज़्यादा बारिश होती है! मैं तो पानी को मध्यप्रदेश या राजस्थान की समस्या के रूप में देखता था। लेकिन वहाँ यह तय किया गया कि इस अध्याय में साझा प्राकृतिक संसाधनों की चर्चा की जा सकती है। और ऐसे संसाधनों में से तालाबों (पानी!) को सबसे महत्वपूर्ण माना गया। जहाँ राजस्थान और मध्यप्रदेश की पाठ्य पुस्तकों में यह चर्चा की जाती है कि किसी कार्यक्रम को लागू करने के लिए कौन-सी कॉलोनी को किस तरह चुना जाए, वहीं असम के लिए तालाबों के रख-रखाव व उनकी सुरक्षा से जुड़ा विषय महत्वपूर्ण था। इसलिए, स्कूल आने वाले बच्चों के दैनिक अनुभवों में आने वाली ज़रूरत से जोड़कर उन्हें पंचायतों की भूमिका का महत्व समझाया जा सकता था। पर इस साझी समस्या के अलावा मैं एक नए सबक के बारे में भी बताना चाहूँगा।

आपने ध्यान दिया होगा कि तीनों किस्सों में पंचायत के अध्याय पर कक्षा 4, कक्षा 5 व कक्षा 6 में चर्चा की जा रही है। क्या आपने सोचा कि इसका क्या औचित्य है? यह बात अंशतः शैक्षिक ढाँचे के उन पेचीदा अनुक्रमों से उभरकर आती है जो हमारे देश के विभिन्न भागों में प्रचलित हैं। तथाकथित राष्ट्रीय पाठ्यक्रम (जैसे कि सीबीएसई और आईएसई) और कई हिन्दीभाषी क्षेत्र कक्षा 6 से 8 को माध्यमिक स्कूल के रूप में परिभाषित करते हैं। जबकि देश की परिधि पर स्थित अधिकांश राज्यों में माध्यमिक स्कूल कक्षा 5 से 7 को माना जाता है। इन राज्यों में अक्सर राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचने या उसके जैसा होने की आकांक्षा देखने को मिलती है (हालाँकि, राष्ट्रीय स्तर के सम्भ्रान्त राज्यों/लोगों की सोच पहले ही आगे बढ़ चुकी है और वे आईबी के बारे में सोचने लगे हैं, जहाँ शायद पंचायतों का कोई अस्तित्व ही नहीं होता)। क्या यह सम्भव है कि इन स्थितियों में शिक्षा संवर्ती (concurrent) विषय बना रहे जबकि पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकें, सभी एक राष्ट्रीय प्रतिरूप से बँधे हुए प्रतीत होते हैं?

और कुछ दिलचस्प शिक्षाशास्त्रीय रिवाज़ों के चलते प्रशासनिक ढाँचों

की चर्चा में 'सर्पिलाकार ढंग से ऊपर चढ़ते हुए' और 'स्थानीय से दूरवर्ती' तो जैसे पाठ्य पुस्तकीय लेखकों के नारे ही हो गए हैं। इसलिए राष्ट्रीय स्तर पर पंचायत कक्षा 3 में प्रकट हुई थी (भूतकाल इसलिए क्योंकि अब हम इस ज़िद से छुटकारा पा गए हैं), राज्य सरकार कक्षा 4 में प्रकट हुई थी और केन्द्र सरकार से लेकर संयुक्त राष्ट्र कक्षा 5 में। तथाकथित 'सर्पिलाकार ढंग से ऊपर चढ़ते हुए क्रम' की दृष्टि इन्हें कक्षा 6, 7, 8 में फिर से ले आई और एक बार फिर स्थानीय सरकारों और राज्य सरकारों को कक्षा 9 व 10 में मिला दिया गया। पर फिर, चूँकि विभिन्न राज्यों की स्कूली व्यवस्थाओं में प्राथमिक स्कूल के खत्म होने और उच्च/माध्यमिक स्कूल के शुरू होने की परिभाषाएँ अलग-अलग थीं, अतः पाठ्य पुस्तकीय विषयवस्तु को अक्सर तोड़ा-मरोड़ा जाता रहा। क्या मुझे यह एहसास नहीं होना चाहिए कि यह मनोवैज्ञानिक नियतिवाद, कि एक परिकल्पना या विषयवस्तु को सिर्फ एक खास स्तर पर ही पढ़ाया जा सकता है, एक मिथ्या मान्यता है जिसे व्यवहार में लाना हमें नहीं आता? सर्पिलाकार ढंग से ऊपर चढ़ते हुए क्रम के नाम पर क्या हम बच्चों से सिर्फ पंचायतों के स्वरूप को लेकर वही की वही जानकारी उनके स्कूली जीवन के दौरान 3-3 बार याद करने को नहीं कह रहे थे (और इसके साथ सम्भवतः वोट देना भी भूल जा रहे थे)?

पाठ 4 - अधूरा पाठ, राजनैतिक रंगों से लबरेज़ बुलबुले

इस तथ्य के बावजूद कि अब तक मेरी आधी ज़िन्दगी मेरे तथाकथित गृहराज्य के बाहर गुज़री है, लोग अब भी मुझसे यह अपेक्षा करते हैं कि मुझे केरल के बारे में बहुत सारी चीज़ें पता होंगी। स्थिति और भी मुश्किल हो जाती है क्योंकि पाठ्य पुस्तकीय लेखक अक्सर तथाकथित सहभागिता-आधारित लोकतंत्र के बारे में बात करना चाहते हैं जिसे उस राज्य में स्थापित हुआ मान लिया जाता है, और मेरी जड़ें उन कई गाँवों में से एक - चप्पारापडवु पंचायत में है, जो इस परिवर्तन का आदर्श प्रतिरूप बन गया था। जिस साल मैंने पाठ्य पुस्तकों और पंचायत का काम करना शुरू किया, वह वही समय था जब तथाकथित सहभागिता-आधारित योजना वहाँ शुरू हुई थी जो कि लाल लैतिनी अमरीकी आयात थी। तब तक कई राज्य 'नए' संशोधन के अन्तर्गत पंचायती राज संस्थाओं को नूतन रूप में सामने ले आए थे और इसलिए उन्होंने अनिवार्यतः यह रास्ता अपनाया कि 'लोगों के हाथों में शक्ति' के विचार को पाठ्य पुस्तकों में भी परिलक्षित होना चाहिए।

इसके अलावा, वर्ल्ड बैंक द्वारा सहायता प्राप्त डीपीईपी ने चुनिन्दा तौर पर कोठारी आयोग की उस रिपोर्ट

का प्रयोग करके देखने पर ज़ोर दिया था जिसमें पंचायती राज संस्था को शिक्षा प्रणाली की समस्याओं के हल के रूप में पेश किया गया था। पूरी चर्चा के दौरान यदा-कदा गांधी जी की याद को ताज़ा कर देने के कारण सभी राजनैतिक रंगों वाले लोग पंचायती राज को बढ़ावा देने के लिए प्रस्तुत प्रतीत होने लगे। इन सारी आवाज़ों के बीच में प्रासंगिक पाठ्य सामग्री का चुनाव किस तरह किया जा सकता है? अक्सर ऐसा क्यों होता है कि वयस्क लोग उन्हें आकर्षक लगने वाले हर नए विचार को खुद तो भूल जाते हैं पर उस नए विचार को बच्चों के लिए उपयोगी व सीखा-जाने-योग्य मानकर उन पर लाद देते हैं?

इसलिए ऐसा तरीका ढूँढ़ना एक अत्यन्त मुश्किल काम है कि अध्यायों को पंचायती प्रशिक्षण के लिए बनाई जाने वाली एनजीओ नियम पुस्तिकाएँ बनने से कैसे रोका जाए। इसी प्रकार, यह एक ऐसा विषय था जिसके भीतर खुद ही नागरिक तैयार करने का बोझ छिपा हुआ था और साथ ही इसमें पाठकों से यह अपेक्षा भी निहित थी कि वे भविष्य के मतदाता बनेंगे, भले ही एक जुझारु व्यक्ति या लड़ाकू महिला प्रतिनिधि न बन पाएँ। क्या यहीं पर मध्यमवर्गीय मूल्यों का इस धारणा से टकराव होता है जिसके परिणामस्वरूप राज्य का अस्तित्व जस-का-तस बना रहता है? लोकतंत्र में सशक्त विश्वास को स्कूली शिक्षा का महत्वपूर्ण, अपरिहार्य अंग माना गया। अब पीछे देखने पर लगता है कि स्थानीय स्वशासन – सहभागिता-आधारित योजना – में दिखाया गया भरोसा एक बुलबुले जैसा ही था। अब वर्ल्ड बैंक से निधि प्राप्त करने वाली एसएसए इन्हें त्यागने की प्रक्रिया में है।[3] केरल में वामपन्थ चौथी दुनिया के विचार को अपने दिमाग से दूर रखता है। फिर भी, अधिकांश लोग इस बात से सहमत हो जाते हैं कि कक्षा 6 सहभागिता-आधारित प्रजातंत्र पर चर्चा करने के लिए ज़रा ज़्यादा ही छोटी उम्र होती है। ऐसी चर्चाएँ अमूमन इस वायदे के साथ खत्म होती हैं कि यह काम आगे की कक्षाओं में किया जाएगा। और इस प्रकार, पंचायत पर अभी भी कई अपूर्ण अध्याय रह गए हैं, और चूँकि पढ़ाने योग्य समझी जाने वाली बातों को निर्धारित करने में संस्थाओं और प्रशासनिक प्रक्रियाओं का ही बोलबाला है, अतः क्या मैं इस वायदे को कभी निभाऊँगा?

उपसंहार – किसी भी बात के प्रति कभी आश्वस्त न हों

देश के कई कोनों में कुछ तोड़-मरोड़ कर चुकने (और अब शिक्षक-

[3] *प्रियंका पाण्डे, संगीता गोयल, वैंकटेश सुन्दर रमन का ईपीडब्ल्यू में प्रकाशित लेख 'पब्लिक पार्टिसिपेशन, टीचर एकाउंटेबिलिटी एंड स्कूल आउटकम्स इन थ्री स्टेट्स' पढ़ें। जून 12, 2010, खण्ड XLV, अंक 24, पृष्ठ 75.*

प्रशिक्षण के बारे में सोचने लगने की स्थिति में पहुँच चुकने) के बाद अखबार के बण्डलों को आरामकुर्सी की तरह इस्तेमाल करते हुए हाथ में अखबार और कॉफी का प्याला लेकर मैं रंजन से दक्षिण कन्नड़ा के एक गाँव में पिछले महीने हुए चुनाव में उसके वोट के बारे में पूछ रहा था। उसने कहा कि उसने अपने वार्ड के लिए 5 सदस्य चुने हैं। वहाँ 14 पंचायत सदस्य और 5 वार्ड हैं। यह मुझे बिलकुल भी मंज़ूर नहीं था। मुझे एहसास हुआ कि एनसीईआरटी की कक्षा 6 की 'नई' पाठ्य पुस्तक गलत है। मेरे लिए पाठ्य पुस्तकों का लोकतंत्र 'एक व्यक्ति – एक वोट – एक प्रतिनिधि' वाला होता है! पर उसने मुझे याद दिलाया कि "तुमने तो सिर्फ कुछ राज्यों की पाठ्य पुस्तकें और नियमपुस्तकें ही देखी हैं जबकि मैंने असली में वोट डाला है।" ओफ्फो! मुझे उसकी बीच की उँगली पर लगी अमिट काली स्याही देखकर कितनी खीझ आ रही थी!

अलक्स एम. जॉर्ज: स्कूली पढ़ाई केरल में हुई। शिक्षा एवं कानून का समाज शास्त्र विषयों में विशेष रुचि। एकलव्य द्वारा प्रकाशित 'बच्चे और सरकार' एवं 'childrens perception of sarkar' (अँग्रेज़ी) पुस्तकों के लेखक हैं। एनसीईआरटी की राजनीति विज्ञान की पुस्तकों के पाठ्यक्रम निर्माण से सम्बद्ध रहे हैं। वर्तमान में स्वतंत्र शोध कार्य कर रहे हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवादः भरत त्रिपाठीः पत्रकारिता का अध्ययन। स्वतंत्र लेखन और द्विभाषिक अनुवाद करते हैं। होशंगाबाद में निवास।

सभी चित्रः विवेक वर्माः चित्रकार हैं। मिट्टी के खिलौने, भित्ति चित्र और कोलाज बनाते हैं।